कुछ यादें

‘आपने लिखा’ के बहाने कुछ कही कुछ अनकही

माधव केलकर

सच कहूँ तो *संदर्भ* के सौवें अंक के मौके पर जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो मेरी सबसे ज़्यादा यादें - ‘आपने लिखा’ कॉलम से जुड़ी हैं।

एकलव्य संस्था की तीनों पत्रिकाओं में *संदर्भ* ही ऐसी पत्रिका है जिसमें पाठकों के विचारों को नियमित रूप से स्थान दिया जाता है।

मेरे लिए ‘आपने लिखा’ कॉलम कई मायनों में बेहद महत्वपूर्ण रहा है। पाठकों के खत मेरे लिए सिर्फ खत कभी भी नहीं रहे क्योंकि इनके मार्फत हम पाठकों की सोच को जान पा रहे थे, पाठकों की *संदर्भ* से क्या अपेक्षाएँ हैं, क्या सुझाव हैं, क्या चाहते हैं, क्या डिमांड है, हमारे किन विचारों से पाठक सहमत हैं या असहमत हैं, *संदर्भ* का इस्तेमाल किस तरह किया जा रहा है, *संदर्भ* में क्या गलतियाँ हुई हैं - यह सब पाठकों के खतों से पता चल पाता है। इसके अलावा कई पाठकों ने अपने अनुभव एवं शिक्षा, समाज आदि के बारे में अपना चिन्तन भी अन्य पाठकों के साथ इसी मंच से साझा किया है।

‘आपने लिखा’ को लेकर मेरी कई यादें हैं, लेकिन सभी के बारे में लिख पाना सम्भव नहीं है। इनमें से कुछ यादों को, *संदर्भ* के साथ गुज़ारे कुछ लम्हों को मैं आपके साथ साझा कर रहा हूँ। इन यादों को साझा करते हुए कई बार मैं ‘मैं’ से ‘हम’ भी हो जाऊँगा, उस ‘हम’ से मेरा आशय *संदर्भ* की सम्पादन टीम से है। चलिए शुरू करते हैं।

प्रकाशन में विलम्ब

किसी भी पत्रिका से पाठकों की सामान्य अपेक्षा होती है कि वह नियत समय पर प्रकाशित हो और पाठकों तक पहुँचे। मैं शर्मिन्दगी के साथ कहना चाहता हूँ कि *संदर्भ* ज़्यादातर मौकों पर नियत समय पर प्रकाशित नहीं

हुई। एक-दो महीने से चार-पाँच महीने तक का विलम्ब भी हुआ है।

अनेक पाठकों के खतों में यह दर्ज है कि उन्हें अंक समय पर नहीं मिल रहे हैं, उन्हें *संदर्भ* की लेट-लतीफी अच्छी नहीं लग रही है, अंक समय पर प्रकाशित करें अन्यथा *संदर्भ* की सदस्यता छोड़ने के बारे में विचार करना पड़ेगा - ऐसा भी कुछ पाठकों ने लिखा।

संदर्भ को लाइन पर लाने का हमने एक उपाय खोजा, वो था - संयुक्त अंक का प्रकाशन। संयुक्त अंक का मतलब होता है अंक में पेज तो सामान्य अंक जितने ही होंगे लेकिन अंक चार महीने की अवधि का होगा। इस उपाय को हमने दस-बारह बार तो अपनाया होगा। कई बार विलम्ब के कारणों पर सम्पादकीय नोट के साथ।

लेकिन 'आपने लिखा' में प्रकाशित और अप्रकाशित खतों में पाठकों ने *संदर्भ* के विलम्ब और संयुक्त अंक को सिरे से नकारा है। कुछ पाठकों ने ज़रूर कहा कि गुणवत्तापूर्ण सामग्री पढ़ने को मिलती है इसलिए इस विलम्ब को नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं। फिर भी यह उनके द्वारा दिया गया अभयदान ही था।

यकीन कीजिए, हिन्दी में विज्ञान और शिक्षा सम्बन्धी गुणवत्तापूर्ण लेखन या अनुवाद काफी कम मात्रा में उपलब्ध हैं, इसलिए सामग्री-निर्माण एक प्रमुख कारण होता है इस विलम्ब का। यदि हम कोई शॉर्टकट अपनाते हैं तो सामग्री का सन्तुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है। फिर भी, हमने अपनी ओर से विलम्ब को टालने की कोशिश हमेशा की है।

वैज्ञानिकों की जीवनियाँ

संदर्भ में वैज्ञानिकों की जीवनियाँ प्रकाशित करें, वैज्ञानिकों के रंगीन चित्र दिया कीजिए - यह आम डिमांड रही है। *संदर्भ* में वैज्ञानिकों की काफी जीवनियाँ प्रकाशित की गईं। जो जीवनियाँ हमने प्रकाशित की हैं उनमें व्यक्ति के बचपन के संघर्ष एवं वैयक्तिक घटनाओं की बजाय काम पर ज़्यादा फोकस होता है।

हमने आइंस्टाइन, फैराडे, रामन जैसे कई वैज्ञानिकों की जीवनियाँ प्रकाशित कीं। लेकिन एक बात हमेशा सालती थी कि हम महिला वैज्ञानिकों की जीवनियों को कम ही दे पाए हैं। सबसे पहले हमें महिला वैज्ञानिक कमला भागवत की मराठी में प्रकाशित जीवनी मिली। हमने इसके कुछ अंश हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किए जिसमें 1930 के दशक में लड़कियों को साइंस रिसर्च के फील्ड में दाखिला लेने में आने वाली कठिनाइयों का ज़िक्र था।

कुछ साल पहले इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज़ ने *लीलावतीज़ डॉटर्स* नाम से एक किताब प्रकाशित की। इस किताब में सौ महिला वैज्ञानिकों व समाज-शास्त्रियों की जीवनियाँ शामिल हैं। इसमें महिला वैज्ञानिकों

एक अनुरोध

आपको यह जानकर खुशी होगी कि आप सबके द्वारा भेजी पत्र-पत्रिकाओं से यहाँ जेल में एक छोटी-सी लाइब्रेरी तैयार हो गई है। यहाँ ढाई हज़ार बन्दियों को पुस्तकें बाँटकर उनके समय का सदुपयोग होते देखकर दिल खुश हो जाता है। आपसे एक निवेदन है कि *चकमक* और *संदर्भ* के अंक में हमारी ओर से एक अपील छापें कि पाठकों के पास आई पत्र-पत्रिकाएँ व पुस्तकें पढ़ने के बाद उन्हें हमारे पास भेजकर कैदियों की मदद करें।

राजकुमार गुप्ता

नाशिक रोड जेल, नाशिक, महाराष्ट्र।

राजकुमार की अपील जिसे *संदर्भ* के अंक-33 में (सन् 2001) प्रकाशित किया गया था।

व महिला समाज वैज्ञानिकों द्वारा किए गए काम और पुरुष साथियों के बीच उन्हें किस तरह अपनी जगह बनाने का संघर्ष करना पड़ा जैसे अनेक ब्यौरे हैं।

संदर्भ में इस किताब से कुछ महिला वैज्ञानिकों की जीवनियों का प्रकाशन किया गया। पाठकों के खतों से भी यह समझ में आता है कि उन्हें हमारा मन्तव्य पसन्द आया।

इसी तरह अमरीकी महिला वैज्ञानिकों के भी एक-दो अनुभव प्रकाशित हुए हैं। कुल मिलाकर आप पाएँगे कि भारत हो या अमरीका, महिला वैज्ञानिकों को जगह बनाने के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है।

कुछ खास पाठक

वैसे तो सभी पाठक मेरे लिए खास हैं लेकिन इनमें राजकुमार गुप्ता कुछ अलग ही दर्जा रखते हैं। जिन दिनों *संदर्भ* का राजकुमार से परिचय हुआ उन दिनों वे नासिक जेल में सज़ा पूरी कर रहे थे। उस जेल में राजकुमार अपने कुछ मित्रों के साथ किताबें और पत्रिकाएँ इकट्ठी कर एक लाइब्रेरी चलाते थे। *संदर्भ* नियमित रूप से नासिक जेल भेजी जाती थी और राजकुमार और उनके मित्र इसे पढ़ते थे। राजकुमार *संदर्भ* के विविध लेखों पर अपने विचार भी लिखकर भेजते थे। इनमें से कुछ पत्र *संदर्भ* में प्रकाशित भी हुए हैं। *संदर्भ* को राजकुमार और उनके मित्र पढ़ते हैं और जेल में लाइब्रेरी का संचालन हो रहा है यह विचार ही मुझे भावुक बना देता था। कुछ समय बाद राजकुमार नासिक जेल से पैठण जेल शिफ्ट किए गए तो नासिक की लाइब्रेरी उनका एक दोस्त सम्हालने लगा। इस बीच यरवदा जेल (पुणे) में पदम् सिंह और उनके साथी भी एक लाइब्रेरी का संचालन करने लगे। पदम्

सिंह ने भी *संदर्भ* की सामग्री पर अपने विचार 'आपने लिखा' के लिए भेजे थे। जून 2004 में शुक्र-पारगमन की आकाशीय घटना के समय *संदर्भ* में इससे सम्बन्धित लेख प्रकाशित हुआ था और शुक्र-पारगमन देखने के लिए हमने मायलर फिल्म वाले चश्में भी पाठकों को उपलब्ध करवाए थे। कमल सिंह, पद्म सिंह व अन्य साथियों ने यरवदा जेल में इन चश्मों की मदद से शुक्र-पारगमन को देखा और राजकुमार ने पैठण जेल से। *संदर्भ* के अंक-19 से राजकुमार और उनके दोस्तों से खत व *संदर्भ* भेजने का जो सिलसिला शुरू हुआ वो लगभग आठ-दस साल चला होगा।

स्थानीय बादल क्यों नहीं?

संदर्भ के 19वें अंक में बादलों से सम्बन्धित एक सवाल का जवाब सवालीराम कॉलम के तहत प्रकाशित किया गया था। जवाब में बादलों के आकार से सम्बन्धित एक चित्र था - इमारतों के ऊपर क्यूमुलस बादल और साथ में बादल के आकार सम्बन्धी एक केप्शन।

कुछ दिनों बाद कृष्णकुमार जी (प्रमुख शिक्षाविद्) का एक खत आया जिसमें उन्होंने लिखा था,

"क्यूमुलस बादल के सुन्दर फोटोग्राफ को देखकर पहले ठिठका, फिर सोच में पड़ गया। बादलों के पीछे फैला शहर परिचित लग रहा था। थोड़ी देर से पहचान में आ गया - टोरंटो। शिक्षा विज्ञान पढ़ने मैं वहीं गया था। आज इतने वर्ष बाद *संदर्भ* में टोरंटो शहर देखकर बचपन व युवावस्था की कई स्मृतियाँ व चिन्ताएँ उभर आईं। मैंने हायर सेकेंडरी और बी.ए. में भूगोल पढ़ा। हर पाठ्य पुस्तक में नदी, हवा, हिम भूआकारों, बादलों के चित्र छपे रहते थे। हर चित्र - हाँ हरेक चित्र - यूरोप या उत्तरी अमरीका का होता था। इन चित्रों को देखकर यह सवाल अक्सर मेरे मन उठता था कि क्या ये आकार भारत में कहीं नहीं पाए जाते?

हो सकता है *संदर्भ* के इस चित्र को देखकर कोई छात्र या अध्यापक यह सोचे, क्या क्यूमुलस बादल भोपाल या इन्दौर शहर पर नहीं आते?"

कृष्णकुमार जी की यह टिप्पणी सटीक इस मायने में थी कि *संदर्भ* के उस अंक में एक अन्य लेख प्रकाशित हुआ था जो यह पैरवी करता था कि पर्यावरण शिक्षण में स्थानीय परिवेश को जोड़ना चाहिए।

हालाँकि हमने बाद में कोशिश जारी रखी कि लेखों के साथ स्थानीय उदाहरण, चित्र, स्केच व भाषा का संयोजन कर सकें। लेकिन मालूम नहीं इस कोशिश में किस हद तक सफल हो पाए।

संदर्भ को छोड़ना

संदर्भ के पाठक समूह में नए पाठकों का जुड़ना और कुछ पुराने पाठकों का *संदर्भ* को छोड़ना एक सामान्य प्रक्रिया

ए

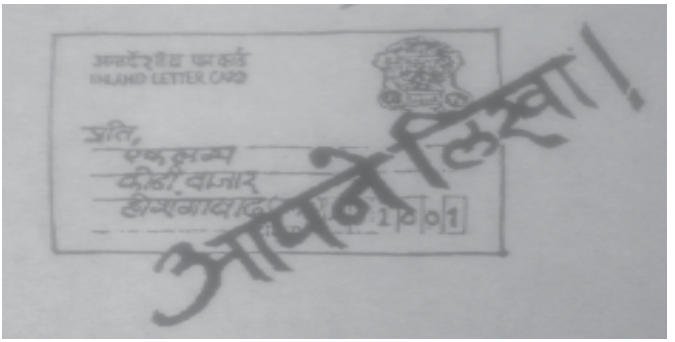

बी

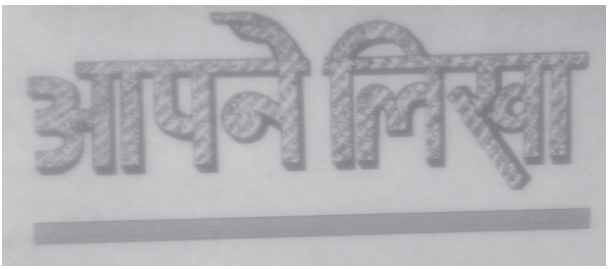

सी

डी

'आपने लिखा' के शीर्षक का सफर: आम तौर पर इस कॉलम का ले-आऊट सरल होता है। फिर भी, ऊपर दिए चित्रों में *संदर्भ* के अंकों में 'आपने लिखा' शीर्षक में क्या बदलाव होते गए यह दिखाने की कोशिश है। **चित्र ए** के 'आपने लिखा' को चित्रकार शिवेन्द्र पांडिया ने लिखा था। **चित्र बी** के 'आपने लिखा' को धनंजय खिरवड़कर ने। बाद में हिन्दी फॉण्ट (राधिका) में 'आपने लिखा' का शीर्षक लिखा जाता रहा। **चित्र सी** में अंक-55 का 'आपने लिखा' हिन्दी फॉण्ट और लिफाफों के चित्र के साथ। और पिछले कुछ अंकों से **चित्र डी** में दिए गए हिन्दी फॉण्ट (रंजीता) में शीर्षक। कुछ अंकों में पाठकों के खत बिना किसी शीर्षक के भी प्रकाशित हुए हैं।

है। *संदर्भ* की लेट-लतीफी, स्कूली विद्यार्थियों का बड़ी कक्षाओं में जाने के बाद उनकी *संदर्भ* में रुचि कम होते जाना, सामग्री पसन्द न आना जैसे कई कारण हो सकते हैं *संदर्भ* के पाठकों के दूर होते जाने के। लेकिन दो पाठकों का *संदर्भ* को छोड़ना मुझे हमेशा अखरता है।

इन दो पाठकों में एक पाठक सुरेश शर्मा, भिवानी, हरियाणा से थे।

अंक-34 में 'ज़रा सिर खुजलाइए' कॉलम में हमने एक सवाल पूछा था - दस-दस सिक्कों की दस ढेरियाँ हैं। पहली ढेरी में सभी सिक्के एक-एक ग्राम के हैं। दूसरी ढेरी में सभी सिक्के दो ग्राम के... इस तरह दसवीं ढेरी में सभी सिक्के दस ग्राम के हैं। इनमें से एक ढेरी के सभी सिक्के नकली हैं और उन सब का वज़न जितना होना चाहिए उससे 0.1 ग्राम कम या ज़्यादा है। आपके पास एक तराजू है जिसकी मदद से आपको कम-से-कम बार तौलते हुए नकली सिक्कों की ढेरी का पता लगाना है।

इस सवाल के कई जवाब मिले थे। जवाब भेजने वालों में सुरेश शर्मा भी थे। *संदर्भ* के अगले अंक में सही जवाब देने वाले पाठक का नाम व उनके द्वारा सुझाया तरीका दिया गया। कम-से-कम तौल में हल देने वालों में सुरेश शर्मा का नाम नहीं दिया गया था क्योंकि सुरेश जी हल के दूसरे या

संदर्भ के पाठकों की विविध अपेक्षाएँ एवं सुझाव

- प्राथमिक व पूर्व प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के लिए सामग्री दें।
- स्थानीय परिस्थितियों से जुड़े लेख दें।
- सस्ते मॉडल बनाने के तरीके हों।
- शिक्षकों के अनुभवों के लिए कुछ पेज आरक्षित रखिए।
- विज्ञान नाटिका को स्थान दें। मुद्रा स्फीति जैसे शब्दों को समझाएँ।
- कठिन शब्द कोष्टक में हिन्दी-इंग्लिश में दें।
- वैज्ञानिक शब्दावली हिन्दी-इंग्लिश में दीजिए।
- विज्ञान की नवीन जानकारी, समसामयिक मुद्दों पर जानकारी।
- कम होते मौलिक लेख, विलम्ब से प्रकाशन, शुद्ध शब्द-वर्तनी।
- *संदर्भ* अँग्रेज़ी में भी प्रकाशित करें।
- *संदर्भ* बुक स्टॉल पर उपलब्ध करवाएँ।
- *संदर्भ* नियत समय पर प्रकाशित कीजिए।

'आपने लिखा' में प्रकाशित खतों से संकलित

तीसरे चरण में गलती कर गए थे। हालाँकि जिन सज्जन ने सटीक तरीका दिया था उन्होंने बाँटों का इस्तेमाल किया था (सवाल में बाँट का उपयोग करने या न करने के लिए कोई क्लू नहीं दिया गया था)।

सुरेशजी ने 'आपने लिखा' में खत लिखकर दिए गए जवाब और तरीके पर अपनी असहमति दर्ज की। साथ ही यह भी कहा कि या तो सवाल गलत है या दिया गया जवाब। सुरेशजी ने स्पष्ट रूप से जवाब व तरीके से असहमति दर्ज करते हुए कहा कि उनकी प्रार्थना स्वीकार न करने की स्थिति में *संदर्भ* का एक पाठक कम हो जाएगा।

संदर्भ के उस अंक में सुरेशजी के खत के नीचे सम्पादकीय नोट प्रकाशित किया गया जिसमें सवाल में अस्पष्टता की बात स्वीकार करते हुए बिना बाँटों की मदद के कम-से-कम चालों में जवाब खोजने के लिए फिर से सवाल खोल दिया गया।

मैं नहीं जानता कि इन सबसे सुरेशजी कितने सहमत हो सके थे। उनका फिर कोई खत नहीं आया। हालाँकि हमने भी उनसे आगे कोई पत्र व्यवहार नहीं किया इसलिए *संदर्भ* ने एक पाठक खो दिया इसे मानना पड़ेगा।

संदर्भ छोड़ने वाले पाठकों में एक अन्य नाम अजीत जैन जलज, टीकमगढ़ का है। अजीतजी टीकमगढ़ के ककरवाहा गाँव की एक स्कूल में बतौर शिक्षाकर्मी या संविदा शिक्षक पढ़ाते थे। 'आपने लिखा' में उनके प्रकाशित खतों से उनका सिस्टम के प्रति रोष व लाचारगी झलकती थी। अजीतजी की *संदर्भ* से अपेक्षा थी कि *संदर्भ* शिक्षाकर्मियों के हो रहे शोषण, शिक्षा के गिरते स्तर आदि पर लेख प्रकाशित करे। वे नवाचारी शिक्षक थे और अपने नवाचारों को अन्य शिक्षकों तक पहुँचाने के लिए लिखते भी थे। हालाँकि उनके लेख को *संदर्भ* के अनुरूप न पाए जाने की वजह से प्रकाशित नहीं किया जा सका। लेकिन श्रुत लेखन के सम्बन्ध में उनका एक लम्बा खत 'आपने लिखा' में प्रकाशित किया गया था। इसके अलावा और भी दो-तीन खत 'आपने लिखा' में प्रकाशित हुए थे। अजीतजी *संदर्भ* से नाराज़ रहते थे क्योंकि उनके लेखों की प्राप्ति या अस्वीकृति की सूचना हम समय पर नहीं देते थे या कभी इतनी देर से देते थे कि लेखक को उस रचना को कहीं और प्रकाशन के लिए देने का मौका भी निकल चुका होता था।

हमने *संदर्भ* के अंक-46 में 'कहाँ गए वो आम' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा सन् 2002 में तैयार की गई गणित की किताबों की समीक्षा की गई थी। इस समीक्षा में बच्चों के परिवेश के फल एवं अन्य सामग्री को छोड़कर अमरीकी तराजू

व खान-पान सामग्री के चित्रण पर चिन्ता व्यक्त की गई थी।

इसी अंक में एक शिक्षक बातचीत के दौरान बच्चों से अण्डे के बारे में सवाल-जवाब करता है। टी.वी. पर अण्डे के विज्ञापन की बात कहता है और पूछता है कि कौन-कौन अण्डे खाते हैं।

अजीतजी ने अगले अंक में 'आपने लिखा' में खत भेजा जिसमें उन्होंने लिखा - "आपको एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्य पुस्तक में भारतीय संस्कृति के फलों का न होना तो बड़ा अखरा, लेकिन स्वयं शिक्षक द्वारा अण्डों का गुणगान करना उल्लेखनीय लगा।

आखिर शाकाहारी संस्कृति, विशेषकर उत्तरी भारत के हिन्दी भाषी विद्यालयों में कितने विद्यालयों में सभी बच्चे अण्डे खाते हैं कि आपने सहजता से छाप दिया कि तुम लोगों ने अण्डा खाया होगा लेकिन हमें कभी नहीं खिलाया।"

साथ ही, उन्होंने सम्पादकीय नीति से असहमति व्यक्त करते हुए सदस्यता नवीनीकरण न करवाने के बाबत लिखा।

उस दौरान एकाध बार हमने सोचा भी कि उन्हें खत लिखकर बताएँ कि जिस तरह भारतीय समाज में पहनावे एवं तीज-त्यौहारों की विविधता है उसी तरह खान-पान सम्बन्धी भी प्रचुर विविधता है। हमें सभी तरह के भोजन और भोजन की आदतों का सम्मान करना चाहिए, सिर्फ शाकाहार को श्रेष्ठ मानना और इतर आहार को खराब मानना उचित नहीं है।

लेकिन हमारी ओर से ऐसा खत उन्हें भेजा गया अथवा नहीं, इस बारे में मैं दावे के साथ कुछ भी नहीं कह सकता।

दो-तीन अंकों के बाद अण्डे के भीतर चूज़ा श्वसन कैसे करता है, इससे सम्बन्धित लेख था।

एक बार फिर अजीतजी ने अण्डे को खोलकर देखने सम्बन्धी गतिविधि पर अपनी असहमति व्यक्त की। हालाँकि उनके खत के साथ सम्पादकीय टिप्पणी भी प्रकाशित हुई थी।

अंक-50 के बाद फिर कभी अजीतजी ने *संदर्भ* को कोई खत नहीं लिखा। यकीनी तौर पर सम्पादक मण्डल के और उनके नज़रिए में फर्क था। लेकिन हम उन्हें पर्याप्त रूप से अपनी बात समझा नहीं पाए। मुझे आज भी खलता है कि नाममात्र के फर्क नज़रिए की वजह से हमने एक पाठक खो दिया। लेकिन इस बात की खुशी भी है कि इन दोनों ने अपनी असहमति दर्ज करवाकर फिर *संदर्भ* को छोड़ा।

गूलर के फूल

संदर्भ के अंक-7 में गूलर के फूल के बारे में पूछे गए सवाल का सवालीराम ने जवाब दिया था। जवाब प्रकाशित होने के कुछ दिन बाद डी.एन. मिश्रराज का पत्र मिला। उस खत में उन्होंने जवाब की तथ्यात्मक गलतियों की ओर ध्यान दिलवाया था। इस खत

को *संदर्भ* के अगले अंक में प्रकाशित किया गया। हम अपनी गलतियों को समझ ही रहे थे कि किशोर पंवार ने हमारी गलतियों और डी.एन. मिश्रराज के खत में छूट गए कुछ मुद्दों को समेटते हुए एक लेखनुमा खत भेजा। हमने इस खत को भी लेख की तरह प्रकाशित किया और तय किया कि आगे से बेहतर तैयारी और जाँच-पड़ताल के बाद ही सवाल के जवाब प्रकाशित करेंगे।

हालाँकि हमारे जीव विज्ञान सम्बन्धी लेखों में कई दफा शब्दों की गलतियाँ हुई हैं मसलन, माइटोकॉण्ड्रिया का माइटो काइंया, हाइड्रिला की जगह हाइड्रा छप जाना, एक बार तो गलत बैक्टीरिया का चित्र भी छप गया था। यकीनी तौर पर हमारी लापरवाही से ही हुआ था यह सब। लेकिन हर दफा किशोर पंवार सर व अन्य पाठकों ने खत लिखकर ऐसी गलतियों में सुधार करवाया है।

ऐसी ही कुछ गलतियाँ भौतिकी, रसायन, गणित, भूगोल व इतिहास के लेखों में भी हुई हैं जिनकी ओर हमारे पाठकों ने ध्यान दिलवाया है। नतीजतन हम अगले अंक में शर्मिन्दा होकर 'भूल सुधार' देते हैं।

बोली और भाषा

संदर्भ के अंक-12 में साधना सक्सेना का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें 1971 और 1981 की जनगणनाओं में भारत की भाषाई विविधता का किस तरह एक असंगत चित्र उभरता है, बोलियों को बोलने वालों की तादाद घटी हुई दर्ज होना और राष्ट्रभाषा को लेकर हिन्दी भाषियों की पूर्व मान्यताओं की पड़ताल की गई थी।

अगले अंक में रमाकांत अग्निहोत्री का एक लेख - 'कौन भाषा कौन बोली' प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने बताने की कोशिश की थी कि भाषा और बोली के बीच बोलियों को कमतर आंकना उचित नहीं है। बोलियों का अपना व्याकरण है, शब्द भण्डार है, साहित्य है।

इन दो लेखों के प्रकाशित होने के उपरान्त हमारे कई पाठकों ने तीव्र प्रतिक्रिया भेजी। यहाँ मैं उन सबके नाम और तर्क बताना नहीं चाहता, उसके लिए आप *संदर्भ* का अंक-14 और 15 पढ़ सकते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के बाद साधनाजी व रमाकांतजी ने अंक-16 में पाठकों की तमाम प्रतिक्रियाओं पर अपना पक्ष रखा। साथ ही, भाषा के सत्ता व राजनीति से सम्बन्धित मुद्दों पर भी अपनी बात को स्पष्टता के साथ लिखा।

भाषा को लेकर यह बहस मेरे लिए इसलिए भी रोचक थी क्योंकि उन दिनों भाषा-बोली एवं भाषा की सत्ता को लेकर मेरी भी कोई स्पष्ट सोच नहीं बन सकी थी। इन सबको पढ़कर मेरे विचारों में भी बदलाव हुआ।

मुझे ऐसा लगता है कि भाषा को लेकर हमारे सभी पाठक खासे जागरुक

रहे हैं। बच्चे भाषा कैसे सीखते हैं, व्याकरण कैसे पकड़ते हैं जैसे मुद्दों पर रमाकांतजी के दो लेख अंक-28 और 30 में प्रकाशित हुए थे। उन पर भी पाठकों ने अपने विचार विस्तार से भेजे थे। रमाकांतजी ने भी कई सवालों और शंकाओं का जवाब आपने लिखा के माध्यम से दिया था।

भारत पेट्रोलियम का विज्ञापन

संदर्भ के अब तक के 21 साल के सफर में शुरुआत के कुछ साल मानव संसाधन विकास मंत्रालय से वित्तीय सहायता मिली थी। इसके बाद हमने ऐसे किसी और वित्तीय सहयोग के लिए काफी प्रयास किए लेकिन कोई लम्बी अवधि की मदद कहीं से नहीं मिल सकी।

संदर्भ के पाठकों के वार्षिक सदस्यता शुल्क के बूते इस पत्रिका को चला पाना कठिन काम था। पिछले पन्द्रह सालों में एकलव्य संस्था ने अपने आर्थिक संसाधनों से *संदर्भ* के खर्च का वहन किया है। बीच-बीच में हम विज्ञापन लेने के बारे में विचार बनाते थे ताकि अंक की छपाई के खर्च निकाल सकें। ऐसा ही एक विज्ञापन भारत पेट्रोलियम लिमिटेड की ओर से मिला। हमें तीन अंकों में इसे प्रकाशित करना था। *संदर्भ* के अंक-30, 31 और 32 में हमने पिछले आवरण पर आधे हिस्से पर भारत पेट्रोलियम का विज्ञापन प्रकाशित किया।

अंक-30 प्रकाशित होने के तुरन्त बाद विज्ञापन के सम्बन्ध में कुछ पाठकों के खत मिलना शुरू हुए। कुछ पाठक भारत पेट्रोलियम के विज्ञापन की वजह से नाराज़ थे, तो कुछ के लिए विज्ञापन छापना पत्रिका की स्वायत्तता पर खतरा था।

इन खतों में से घोर आपत्ति वाले एक-दो खतों को 'आपने लिखा' में स्थान देना मुनासिब लग रहा था। लेकिन साथ ही *संदर्भ* की अपनी नीतिगत बात को कहना भी ज़रूरी लग रहा था। अंक-34 में हमने सम्पादकीय नोट के रूप में अपनी बात भी पाठकों तक पहुँचाई थी। जिन पाठकों की रुचि इस पूरे मुद्दे को समझने की है, वे अंक-33 और 34 देख सकते हैं।

सामग्री का सन्तुलन

संदर्भ में हिन्दी में लिखी गई सामग्री तथा अँग्रेज़ी से अनुदित सामग्री के बीच एक सन्तुलन बनाए रखने की कोशिश हम करते हैं। कभी यह सन्तुलन गड़बड़ा भी जाता है, यानी अनुदित सामग्री ज़्यादा हो जाती है।

मेरे ख्याल से हमारे पाठक भी इस बात को पकड़ लेते हैं कि अँग्रेज़ी से अनुवाद कुछ ज़्यादा हो रहे हैं।

इस असन्तुलन पर कृष्णकुमार मिश्र (होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन) ने 'आपने लिखा' में खत लिखकर अनुवाद की अधिकता पर टिप्पणी करते हुए हमारा ध्यान इस ओर दिलवाया था। *संदर्भ* के अंक-45

में 'आपने लिखा' के तहत उन्होंने टिप्पणी की थी - "पत्रिका में धीरे-धीरे मौलिक सामग्री कम से कमतर होती जा रही है।... यही हाल रहा तो कुछ दिनों में सभी लेख साभार होंगे। फिर इसका नाम होना चाहिए 'साभार संदर्भ'।"

यह टिप्पणी अपनी जगह वाजिब है। फिर भी मुझे लगता है कि फाइनमेन या हाल्डेन या एसीमोव जैसे लेखक हिन्दी में कम ही हैं। दूसरी बात, कई लेखक *संदर्भ* के लिए अपने लेख अँग्रेज़ी में ही लिखकर भेजते रहे हैं। तीसरी बात, अँग्रेज़ी या अन्य भाषाओं में प्रकाशित अच्छी सामग्री हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध नहीं होती। ऐसे में हम अँग्रेज़ी या अन्य भाषाओं में प्रकाशित सामग्री का अनुवाद *संदर्भ* में देते रहे हैं। लेकिन 'साभार संदर्भ' वाली प्रवृत्ति से तो हम भी बचना चाहते हैं।

तात्कालिक मुद्दों पर लेख नहीं

अक्सर ऐसे खत मिलते रहे हैं कि *संदर्भ* में शिक्षा के तात्कालिक मुद्दों पर लेख होने चाहिए, कॉलेज स्तरीय शिक्षा पर भी लेख हों, *संदर्भ* में सम्पादकीय लिखना चाहिए।

यदि इन तीनों को बारी-बारी देखें तो भारतीय स्कूली शिक्षा में पिछले बीस साल में काफी बदलाव हुए हैं। प्राथमिक, माध्यमिक व हायर सेकेंडरी स्तर की शिक्षा की गुणवत्ता बेहतर करने के विविध प्रयास हुए हैं, मिड-डे-मील जैसी योजना शुरू हुई, निजी स्कूलों की संख्या में काफी इज़ाफा हुआ है, एन.सी.एफ. 2005 दस्तावेज़ बना, राइट टू एजुकेशन एक्ट पारित हुआ, पैरा-टीचर, कांट्रेक्ट टीचर, अतिथि शिक्षकों का स्कूलों में प्रवेश हुआ। इन सभी बदलावों के स्कूली शिक्षा पर तात्कालिक और दीर्घकालीन प्रभाव पड़े हैं।

इन सभी योजनाओं या बदलावों को लेकर *संदर्भ* में काफी कम लेख प्रकाशित हुए हैं। जो लेख प्रकाशित हुए हैं वे शिक्षक साथियों के ठोस अनुभव हैं, अनुभवजन्य विचार हैं। मेरे ख्याल से किसी योजना या बदलाव की तुरन्त आलोचना या समीक्षा करना कई दफा थोड़ी जल्दबाज़ी हो जाती है, साथ ही कुछ पहलुओं पर पूरी तरह से विचार भी नहीं हो पाता। इन सबको देखते हुए मैं सोचता हूँ कि पहले योजना लागू हो जाए, शिक्षक साथियों व हम सबके ठोस अनुभव सामने आने लगें यह ज़रूरी है। हमने *संदर्भ* में तुरन्त समीक्षा देने की जगह अनुभवों को महत्व दिया।

वैसे *संदर्भ* ने स्कूली शिक्षा को फोकस में रखा है। लेकिन कॉलेज स्तरीय शिक्षा में भी दिक्कते हैं इस तथ्य को माना है। यदि हमें कॉलेज स्तरीय शिक्षण पर कोई उपयोगी लेख मिला तो उसे प्रकाशित भी किया है।

संदर्भ के हर अंक में सम्पादकीय प्रकाशित होना चाहिए यह कुछ पाठकों की माँग थी। एक-दो बार हमने भी

सोचा कि हर अंक में सम्पादकीय में क्या लिखना चाहिए। शिक्षा की नीति पर, किसी घटना पर, *संदर्भ* के किसी लेख पर या शिक्षा की फिलॉसफी-पैडागॉजी पर। काफी सोच-विचार के बाद लगा कि तात्कालिक घटनाओं, बदलावों पर या कुछ भाषणनुमा लिखने की बजाय, कुछ न लिखना ही बेहतर होगा। *संदर्भ* के लेख अपने आप में विविध मुद्दों पर टिप्पणी से कम नहीं हैं।

संदर्भ का उपयोग व फीडबैक

'आपने लिखा' के खत अपने आप में काफी कुछ कहते हैं लेकिन *संदर्भ* का इस्तेमाल शिक्षक और शिक्षक प्रशिक्षक किस तरह से कर रहे हैं इसके बारे में हमारे पास विस्तृत जानकारी का अभाव है। हम इतना तो जानते हैं कि शिक्षक ने अमुक लेख को कक्षा में बच्चों के साथ पढ़ा या किसी लेख का उपयोग कक्षा में किसी पाठ को पढ़ाने के लिए स्रोत सामग्री के रूप में किया। किसी शिक्षक प्रशिक्षक ने किसी कार्यशाला में *संदर्भ* के किसी लेख का उपयोग किया आदि आदि। एक-दो उदाहरण जो याद आते हैं।

महासमुद (छत्तीसगढ़) से हितेश दीवान ने *संदर्भ* के अंक-33 में प्रकाशित लेख 'बच्चे और जंग' का नाट्य रूपान्तरण किया और बच्चों ने उसकी प्रस्तुति दी।

इसी तरह उदयपुर (राजस्थान) के विनोद सुथार ने डी.एड. के छात्रों को *संदर्भ* के कुछ लेखों की फोटोकॉपी दी और उन लेखों पर चर्चा भी की।

लेकिन उन्होंने अपनी प्लानिंग में सामग्री का किस तरह उपयोग किया, लेख ने किस हद तक मदद की आदि बातों से हम अनभिज्ञ हैं। यदि हमारे पाठक *संदर्भ* का किस तरह उपयोग कर पाते हैं इस बारे में विस्तार से बताएँगे तो हमें मदद ही मिलेगी।

फीडबैक के बारे में एक और बात कहना चाहता हूँ। अभी तक *संदर्भ* के सफर में हमने दो बार प्रश्नावली भेजकर पाठकों के विचार जानने की कोशिश की है। पहली बार अंक-14 (वर्ष 1997 में) के प्रकाशन के समय और दूसरी बार (वर्ष 2014 में) अंक-95 के साथ।

पहली बार जब फीडबैक माँगा गया था उन दिनों इंटरनेट, ई-मेल व वेबसाइट जैसी तकनीक प्रचलन में नहीं थी। उस समय प्रश्नावली को छापकर पाठकों के पतों पर भेजकर, पाठकों से मिले जवाबों के विश्लेषण पर आधारित था वह फीडबैक। पाठकों के कुछ सुझावों और माँगों को हमने माना भी था उस समय। कुछ सुझाव जैसे पत्रिका को मासिक कर दें, पूरी रंगीन कर दें, पॉपुलर साइंस मैग्ज़ीन बना दें - को मानना हमारे लिए सम्भव नहीं था। लेकिन मैं फिर भी कहूँगा कि हमारे पास पाठकों के काफी जवाब आए थे।

दूसरी बार भी फीडबैक सम्बन्धी प्रश्नावली छपवाकर पाठकों तक भेजी

गई। संवाद के अनेक साधन उपलब्ध होने के बाद भी अपेक्षाकृत पाठकों का फीडबैक काफी कम मिला है। मेरा सभी पाठकों से अनुरोध है कि वे एक बार फिर प्रश्नावली को देखकर अपना फीडबैक हमें भेज सकते हैं।

आप *संदर्भ* को लेकर क्या सोचते हैं, सामग्री को लेकर क्या सुझाव है? इन सबका मकसद है *संदर्भ* के मार्फत शिक्षकों के लिए उपयोगी सामग्री का संयोजन किस तरह किया जाए, इसे जान पाना। इसे बेहतर कर सकना।

***

वैसे तो *संदर्भ* का सफर सौवें अंक तक पहुँच गया है। *संदर्भ* के साथ मेरा यह सफर हमेशा यादगार रहेगा। *संदर्भ* को मैंने जमकर जिया है। हरेक अंक के साथ यादें जुड़ी हुई हैं।

इन यादों को संजोते हुए मैंने जिन लेखकों व पाठकों के नाम का उल्लेख किया है उनके नाम सिर्फ प्रसंगवश आए हैं। मेरे मन में उनके लिए किसी तरह की दुर्भावना नहीं है। ये एक मौका भी था जब मैं *संदर्भ* की सम्पादकीय नीतियों के बारे में कुछ साझा कर पाता।

संदर्भ को आगे भी आपका सहयोग, समर्थन मिलता रहेगा, इस उम्मीद के साथ आगे भी *संदर्भ* को आप तक पहुँचाने का सिलसिला जारी रहेगा।

माधव केलकर: 'संदर्भ' के सम्पादन मण्डल के सदस्य हैं।

फीडबैक फॉर्म

संदर्भ के पाठकों के लिए फीडबैक फॉर्म एकलव्य की वेबसाइट पर उपलब्ध हैं। कृपया वेबसाइट पर जाकर अपना फीडबैक दीजिए। या फॉर्म डाउनलोड कर, उसे भरकर हमारे पास भेजिए।